शिक्षा एवम् संगीत शिक्षण पद्धतियाँ–एक अध्ययन

सीमा बाला
पी.एच.–डी. शोध–छात्रा, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

किसी भी कार्य को करते समय जो भी समस्याएं आती हैं उनका निराकरण कर आगे बढ़ना और कार्य को सुचारू रूप से सम्पन्न करना, विचारशील मनुष्य का कर्त्तव्य है। अतः शिक्षा वह साधन है जो मनुष्य के वैचारिक परिवर्तन में सहयोग देती है। शिक्षा ही मनुष्य की विचारशक्ति, तर्कशक्ति, समस्या, समाधान, बौद्धिकता, प्रतिभा, रूझान, कुशलता, अच्छे मूल्यों तथा रूचियों को विकसित करती है। तथा मनुष्य की दोषपूर्ण शक्तियों का निराकरण करके उसके आंतरिक गुणों में शील तथा विनय अर्थात् मन, कर्म, वचन से किसी से द्वेष न रखना, सब प्राणियों के प्रति प्रेम व अनुग्रह रखना, त्यागी व दानी होना आदि गुणों का विकास करती है। ''शिक्षा मानव की सर्वांगीण उन्नति का एक ऐसा आधार है जो उसके व्यक्तित्व के विकास का कारण बनती है। बालक में अन्तर्निहित जन्मजात शक्तियों का परिष्कार करके उनमें से दोषपूर्ण शक्तियों का निराकरण करके तथा आंतरिक गुणों का निखार करके 'शिक्षा' ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण करती है।''[1] शिक्षा को उस प्रकाश स्त्रोत की संज्ञा दी गई है, जो मनुष्य को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सच्चा पथ प्रदर्शन करती है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में ''शिक्षा'' को ''मुक्तिदायिनी'' कहा गया है। ''सा विद्या या विमुक्त्ये'' अर्थात् शिक्षा ही वह साधन है जो मनुष्य को अज्ञानता तथा सर्वबंधनों से मुक्त कराती है। शिक्षा से शरीर, मन और आत्मा में विकास की अपेक्षा की जाती है। यह वह तत्त्व है, जिससे मानव समस्त प्राणियों में उन्नत स्थान प्राप्त करता है।

शिक्षा का अर्थ

''शिक्षा को अंग्रेजी भाषा में 'एजुकेशन' कहते हैं। इस शब्द का निर्माण लेटिन शब्द Educatum से हुआ है। 'ऐडुकेटम' का अर्थ है 'शिक्षित करना' इसी शब्द के विस्तृत विवेचन से स्पष्ट होता है 'ए' (A) का अर्थ है 'अन्दर से और 'डूको' (DUCO) का अर्थ है 'आगे की ओर बढ़ना' एवं 'अग्रगति देना'। इस प्रकार शिक्षा का शाब्दिक अर्थ है ''अन्तः शक्तियों को बाहर की ओर विकसित करना।''[2] ''सामान्य रूप से शिक्षा का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जो व्यक्ति के शरीर, मन तथा आत्मा

का सर्वांगीण विकास करे, जो मनुष्य को आत्मविश्वासी व स्वार्थहीन बनाए तथा व्यक्ति के जन्मजात गुणों एवं प्रतिभा को उसके व्यक्तित्व में प्रकाशित कर सके।''[3]

शिक्षा एक जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जो मानव के जन्म से लेकर मृत्यु तक चलती रहती है। अतः शिक्षा को पूर्ण रूप से परिभाषित कर पाना कठिन है। ''शिक्षा'' की व्याख्या तथा तदंतर्गत विषयों का सर्वप्रथम विवरण तैतिरीय उपनिषद् में पाया जाता है।''[4] शिक्षा की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है ''शिक्षा का अर्थ है उस पूर्णता को व्यक्त करना, जो सब मनुष्यों में पहले से विद्यमान है।''

शिक्षा मानव को विशिष्ट ज्ञान प्रदान करती है। किसी भी शिक्षा प्रक्रिया में ज्ञान का सृजन, ज्ञान को आत्मसात् करना, ज्ञान का वितरण तथा ज्ञान का मूल्यांकन करना आवश्यक होता है। अतः ज्ञान की अनिवार्यता हर युग में रही है इसीलिए शिक्षा को हर युग में मूल्य एवं महत्त्व प्राप्त होता रहा है। प्राचीन काल में शिक्षा को आत्माज्ञान एवं आत्मप्रकाश के रूप में स्वीकार किया गया है साथ ही साथ इसे मोक्ष प्राप्ति का सफल साधन भी माना जाता था। ''हमारे प्राचीन साहित्य में ''शिक्षा'' वेदागों में से एक का नाम है, इसमें वेदों का वर्ण, स्वर, मात्रा आदि का विवेचन किया गया है।''[5]

प्राचीन समय में शिक्षा का एक साधारण स्वरूप विद्यमान था तथा विषय सीमित थे। किन्तु आधुनिक समय में शिक्षा का स्वरूप अत्यंत विस्तृत एवं जटिल होने के कारण शिक्षा का आदान–प्रदान दो प्रकार से किया जाता है–

1) औपचारिक शिक्षा 2) अनौपचारिक शिक्षा

''शिक्षा की जिस सुसंगठित प्रणाली द्वारा व्यवहार में संशोधन किया जाता है, उसे औपचारिक शिक्षा कहते हैं। अनौपचारिक शिक्षा में व्यवहार का संशोधन बिना किसी नियोजित एवं सचेत प्रयास के सहज रूप से होता है।''[6] सम्भवतः इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हमारे शिक्षा मर्मज्ञों ने शिक्षा को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु यह शिक्षा प्रक्रिया तब तक सफल व उपयोगी नहीं हो सकती जब तक इसमें इसके प्रमुख तत्त्वों का पूर्ण समावेश व सहयोग न हो।

शिक्षा प्रक्रिया के तत्त्व

शिक्षा प्रक्रिया के तत्त्वों की चर्चा करने से पूर्व शिक्षण की परिभाषा पर विचार करना उपयुक्त होगा। शिक्षण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विद्यार्थी के व्यवहार में वांछित परिवर्तन लाया जाता है। शिक्षण का अधिगम से सीधा सम्बन्ध है एवं शिक्षण की सफलता का अन्तिम निर्धारक तत्त्व उसका परिणाम होता है। शिक्षण प्रक्रिया क्रमिक एवं व्यवस्थित होती है। इसके प्रमुख अवयव शिक्षक, शिक्षार्थी, पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक, अध्ययन कक्ष, सहायक शिक्षण सामग्री आदि हैं।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

''शिक्षा'' शब्द कहते ही उसके दो पात्र 'गुरू व शिष्य' अथवा ''शिक्षक व शिक्षार्थी'' के रूप में उभरकर सामने आते हैं। यदि ऐसा कहा जाए कि यह दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। वास्तव में इन दोनों का अस्तित्व एक–दूसरे पर निर्भर करता है। दोनों के कार्यों का समान महत्त्व है। शैक्षणिक प्रक्रिया में दोनों का सक्रिय होना अत्यावश्यक है। यदि शिक्षक निर्देशन करता है तो शिक्षार्थी उसका अनुगमन करता है, यदि शिक्षक पढ़ाता है तो शिक्षक पढ़ता है, शिक्षक बोलता है तो शिक्षार्थी सुनता है। इसी प्रकार दोनों का कार्य एक–दूसरे से सम्बन्ध व विचारों का परस्पर आदान–प्रदान होता है। एक–दूसरे के सहयोग के बिना यह अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः इन दोनों के सक्रिय सहयोग से ही शिक्षा प्रक्रिया चलती है।

पाठ्यक्रम

शिक्षा अथवा प्रशिक्षण के लिए निर्धारित विषयों, उपविषयों एवं सम्बन्धित सामग्री की व्यवस्थित एवं साररूप में प्रस्तुति ही पाठ्यक्रम कहलाता है। शिक्षण में पाठ्यक्रम की व्यवस्था का उद्देश्य उस विषय के शिक्षण की गुणवता तथा विद्यार्थी का मार्गदर्शन करना होता है। अतः उसी पाठ्यक्रम को पाठ्यपुस्तक के माध्यम से निश्चित व सुनियोजित करके विद्यार्थी की शिक्षण प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जाता है। इसके अतिरिक्त अध्ययन कक्ष व सहायक शिक्षण सामग्री का भी इसमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है।

शिक्षण संस्थान

शिक्षण संस्थान का अर्थ है जहां विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते हैं। शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षण संस्थानों का बड़ा महत्त्व है। शिक्षण संस्थानों द्वारा समाज में ज्ञान का

प्रकाश फैलता है। शिक्षण संस्थानों में समाज के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही शिक्षा दी जाती है।

शिक्षा का महत्त्व

शिक्षा मानव में अच्छे संस्कार, कुशल व्यवहार व परिश्रम से न भागने का जज़्बा भरती है और जीवन में सफलता के मार्ग प्रशस्त करती है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य में अच्छे–बुरे का निर्णय लेने की क्षमता आती है। शिक्षा जीवन का एक अभिन्न अंग हैं। इसके बिना मानव जीवन असंभव है। शिक्षित व्यक्ति ही जीवन में सफलता प्राप्त करके अपना भविष्य उज्जवल बनाता है।

शिक्षा एवं संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध

शिक्षा के असीमित क्षेत्र तथा अंगों उपागों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य आत्मचिंतन व आत्ममंथन माना गया है। शिक्षा मानव के सर्वांगीण विकास तथा समाज परिवर्तन के एक प्रभावी अभिकरण के रूप में कार्य करती है। शिक्षा का सम्बन्ध चाहे किसी भी विषय से क्यों न हो, यह एक सापेक्ष अर्थ अवश्य रखती है। क्योंकि इसके अभाव में मन की अर्मूत भावनाएं न तो प्रस्फुटित होती है न मनुष्य की कलात्मक आकांक्षाएं तृप्त हो पाती हैं। बालक में स्थित सुप्त प्रतिभा को बढ़ावा देकर उसकी प्रतिभा तथा कला को उजागर करना शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा में कला का अपना अलग महत्त्व है, क्योंकि कला के माध्यम से ही व्यक्ति अपने भावों तथा संवेगों को व्यक्त करता है क्योंकि भावों को व्यक्त करने का सबसे उपयोगी व सरल माध्यम संगीत है। अतः संगीत तथा अन्य कलाओं की प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था हर छात्र के लिए आवश्यक है। यद्यपि व्यक्ति शास्त्रों में वर्णित 64 कलाओं में से किसी भी कला को अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए चुन सकता है परन्तु ललित कलाओं की शिक्षा मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों के परिष्कार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ललित कलाओं में लालित्य एवं परत्तत्वविषयक सामग्री निहित होने के कारण इन्हें स्वतंत्र कलाएं माना गया है। अतः इन 64 कलाओं में से संगीत, काव्य, चित्रकला, वास्तुकला तथा शिल्पकला को ललित कलाओं के अन्तर्गत रखा गया है। परन्तु इन ललित कलाओं में भी संगीत कला को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

संगीत कला

मानवीय चेष्ठा या क्रिया का एक ही प्रत्यक्ष रूप 'कला' है। मानव स्वभाव से ही सदैव अपने सुख की कामना करता रहा है और उस सुख के लिए वह अपने

जीवन को अच्छे ढंग से जीता आया है। अपने आसपास के वातावरण को वह सुन्दर देखना चाहता है तथा इसी श्रेष्ठ भावना को लेकर उसके मन में सौंदर्य के प्रति प्रेम जागृत हुआ। सौंदर्य के इस भाव ने उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम को जन्म दिया और यह अभिव्यक्ति ''कला'' के नाम से हमारे सामने आई। हमारे प्राचीन ग्रन्थों तथा शास्त्रों में 64 कलाओं का वर्णन मिलता है जिन्हें ''उपयोगिता'' और ''सौन्दर्य'' के आधार पर दो भागों में विभक्त किया गया है।

1) ललित कला 2) उपयोगी कला

ललित कलाएं सौंदर्य का साक्षात स्वरूप हैं। अतः ललित कलाओं के अंतर्गत वे कलाएं आती हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य देखकर, सुनकर अथवा पढ़कर मानव हृदय को आनंद प्राप्त कराना होता है। इन कलाओं के अन्तर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्यकला एवं संगीतकला आती हैं। इसके अतिरिक्त उपयोगी कलाओं के अंतर्गत वे कलाएं आती हैं जिनका सम्बन्ध हमारे जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से है।

ललित कलाओं और उपयोगी कलाओं में अंतर मात्र इतना है कि ललित कलाएं विशेष रूप से मनुष्य के मन की अन्तरात्म भावनाओं को प्रसन्न करती हैं और उपयोगी कलाएं मनुष्य की व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

सभी कलायें अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए अलग–अलग माध्यमों का प्रयोग करती है। जैसे काव्यकला शब्द के माध्यम से चित्रकला कैनवस व ब्रश के माध्यम से तथा अन्य कलायें भी किसी न किसी माध्यम से अपने भावों को अभिव्यक्त करती हैं परन्तु इन सबमें संगीत कला का भावपूर्ण, मधुर, हृदय के कण–कण में पहुंचने की क्षमता रखने वाला माध्यम अत्यंत सूक्ष्म व श्रेष्ठ माना जाता है जो कि स्वर है। अतः इसीलिए संगीत कला को ललित कलाओं में सर्वोच्च स्थान पर रखा गया है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राणी मात्र को आत्मदर्शन की प्रेरणा होती है। तत्पश्चात् उसकी अभिव्यक्ति करना उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है। यही अभिव्यंजना संगीत की जन्मदायिनी होती है। संगीत प्रस्तुत करने की कला है प्राणी वर्ग के लिए ईश्वरीय देन है। अतः उसकी निर्मित के समय ही उसका आनंद लिया जा सकता है। संगीत की मधुर स्वरलहरियां मानव के निराश, अधीर एवं अशान्त मन को सांत्वना देती हुई हर्ष, आनन्द और प्रेरणा के नवीन सन्देश भर नवस्फूर्ति एवं आस्था पैदा करती है। संगीत का अस्तित्व मानव जीवन का शाश्वत

उपादान है। संगीत वह ललित कला है जिसमें संगीतज्ञ स्वर, ताल, लय के माध्यम से अपने मनोगत भावों को व्यक्त करता है।

'संगीत' एक पारिभाषिक शब्द हैं, जिससे गीत, वाद्य एवं नृत्य इन तीनों विधाओं का बोध होता है। संगीत रत्नाकर में कहा गया है– ''गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्चते।'' अर्थात् गीत वाद्य और नृत्य ये तीनों मिलकर संगीत कहलाते हैं। ''संगीत' शब्द 'गीत' शब्द में 'सम' उपसर्ग लगाकर बनता है। 'सम्' यानी 'सहित' और 'गीत' यानी 'गान'। 'गान के सहित' अर्थात् अंगभूत क्रियाओं (नृत्य) व वादन के साथ किया हुआ कार्य 'संगीत' कहलाता है।''[7]

संगीत शिक्षा

संगीत मानव समाज की एक कलात्मक उपलब्धि है। यह भारत की प्राचीनतम कलाओं में से एक है और मुख्यतः प्रायोगिक है। समाज के परिपूर्ण शिक्षण में संगीत शिक्षण एक महत्त्वपूर्ण अंग है परन्तु संगीत कला में निपुणता प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा और परिश्रम की आवश्यकता होती है। संगीत एक ऐसा विषय है जो शिक्षा के विभिन्न चरणों में से गुजरता हुआ एक साधारण व्यक्ति को भी उपाधि दिलाता है। प्राचीन काल से ही भारतीय शिक्षा में संगीत एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। जिसके अन्तर्गत कल्पना, सुझ, सन्तुलन, स्वाभाविक, आत्माभिव्यक्ति, आत्मनियंत्रण, गति, व्यायाम तथा और भी अनेक गुण समाहित है। जहां अन्य विषयों की शिक्षा द्वारा हमारा बौद्धिक विकास हो पाता है। वहीं संगीत विषय की शिक्षा द्वारा हमारे बौद्धिक विकास के साथ–साथ हमारा भावनात्मक विकास भी होता है। संगीत शिक्षा न केवल व्यक्तिगत रूप से बलिक सामूहिक रूप से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह समाज में एक–दूसरे के प्रति प्रेम, भाईचारा व सहृदयता की भावना को जागृत करती है। व्यक्ति व समाज से ऊपर उठकर संगीत शिक्षा संस्कृति एवं सभ्यता को भी संरक्षण प्रदान करती है। संगीत शिक्षा के द्वारा ही प्राचीन संस्कृति व सभ्यता का ज्ञान आने वाली नवीन पीढ़ियों को उपलब्ध होता है एवं यही संगीत भविष्य में निर्मित होने वाले संगीत का प्रेरणा स्त्रोत बनता है।

संगीत शिक्षा में जहाँ मन की एकाग्रता, अनुशासन पालन की प्रेरणा, शारीरिक विकास, मन की दुर्बलताओं का अंत, चरित्र निर्माण आदि विशेष गुणों का संगम है वहीं इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि यह व्यक्ति को उसकी सभ्यता तथा संस्कृति से परिचित करवाने में भी सहायक है। संगीत के माध्यम से बालक के

मन में शिक्षा के प्रति रूचि उत्पन्न की जा सकती है। इसी कारण शिक्षाविदों ने शिक्षा में संगीत को अनिवार्य स्थान दिया है। संगीत शिक्षा केवल संगीत का ज्ञान कराने के लिए ही नहीं अपितु बालकों के भावों की शिक्षा तथा उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए भी महत्त्वपूर्ण मानी गई है। अतः संगीत के अनेकानेक पक्षों को ध्यान में रखते हुए, संगीत को मानव जीवन का संचालक व आवश्यक तत्त्व माना गया है। शिक्षा के माध्यम से ही सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का उत्कर्ष होता है, शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा पहले से चली आती हुई परम्पराएं जीवन्त हो उठती है। ''भारतीय सभ्यता व संस्कृति का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि शिक्षा का प्रारंभिक स्वरूप गुरूकुल पद्धति के रूप में था। इस पद्धति के अन्तर्गत सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा को ईश्वरतुल्य तथा संगीत का योग के समान, ईश्वर प्राप्ति के श्रेयस मार्ग पर चलने का श्रेष्ठतम माध्यम माना जाता था। प्राचीन कालीन शिक्षा में वेद तथा षट्वेदागों की शिक्षा के साथ–साथ संगीत शिक्षा का भी अन्तर्भाव था।''[8]

संगीत शिक्षण की विभिन्न पद्धतियाँ

''प्राचीन काल से वर्तमान समय तक संगीत शिक्षा के अनेक रूप भारत में प्रचलित रहे, जिनमें प्रमुख गुरूकुल शिक्षा पद्धति, या घरानेदार व्यक्तिगत शिक्षा पद्धति, संस्थागत शिक्षण पद्धति तथा विश्वविद्यालयीय पद्धति रही है।''[9] संगीत शिक्षा के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि संगीत की शिक्षण प्रणाली उतनी ही पुरातन है जितनी शिक्षण परम्परा। दूसरी ओर संगीत उन महत्त्वपूर्ण विषयों में रहा जिनका प्रशिक्षण संसार में सबसे पहले हुआ था। संगीत शिक्षा का आरंभ गुरू शिष्य परम्परा से माना जाता है। इन तथ्यों का उल्लेख हमें वेदों, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों से होता है।

वैदिक कालीन गुरूकुल शिक्षा पद्धति

भारतीय संस्कृति के इतिहास का प्राचीनतम युग वैदिक युग माना जाता है। प्राचीन वैदिक शास्त्रीय संगीत को 'साम' की संज्ञा दी जाती थी। 'साम' एक प्रकार से वैदिक काल के ऋषियों की गायन प्रतिभा के प्रयोग को ही दर्शाता है। सामगान का विशेष प्रशिक्षण मूल सामग ऋषियों द्वारा दिया जाना अनिवार्य था। सम्भवतः यहीं से संगीत शिक्षा का आरंभ हुआ। वैदिक काल में सामगान के अंतर्गत संगीत के तीनों ही अंगों गायन, वादन और नृत्य का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन काल में

संगीत के क्रियात्मक पक्ष के साथ–साथ शास्त्रात्मक ज्ञान को भी महत्त्व दिया जाता था। वैदिक काल में संगीत का स्वरूप एकदम पवित्र था तथा उसे मोक्ष प्राप्ति का सफल साधन माना जाता था। विद्या का आदान–प्रदान गुरू–शिष्य परम्परा द्वारा किया जाता था। वैदिक युग में संगीत शिक्षा से सम्बन्धित जो भी मत प्राप्त होते हैं वह इसी ओर ईशारा करते हैं कि उस समय संगीत आदि ललित कलाओं की शिक्षा व्यक्तिगत तथा मौखिक रूप से दी जाती थी। संगीत शिक्षा प्रायः गुरूकुलों में ग्रहण की जाती थी। '''गुरूकुल' का अर्थ है 'गुरू के घर में रहकर विद्यार्जन करना।''[10]

संगीत सीखने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी दूर–दूर से अध्ययन करने आते तथा गुरू के आश्रम में कई वर्षों तक संगीत सीखते थे। सम्भवतः यही गुरू शिष्य परम्परा का उदय था। गुरूकुल में रहकर गुरू की सेवा करते हुए, कठोर अनुशासन, नियमित एवं संयमित जीवन बिताते एवं सतत् साधना करते हुए, गुरू ज्ञान द्वारा दी गई सम्पूर्ण शिक्षा को पूरा कंठस्थ करना ही शिक्षा का साधन था। क्योंकि उस समय संगीत शिक्षा मौखिक रूप से ही दी जाती थी। ''रामायण काल में भी हमें गुरूकुल प्रणाली के दर्शन होते हैं। महाभारत काल में संगीत की शिक्षा के लिए बड़े–बड़े नगरों में संगीतशालाओं का प्रबन्ध प्रशासन की ओर से किये जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।''[11] गुरू–शिष्य परम्परा में संगीत शिक्षा ग्रहण करने के लिए शिष्यों को तीव्रता, लग्न, गुरूनिष्ठा, परिश्रम, संयम, साधना आदि गुणों का परिचय देना पड़ता था तब जाकर शिष्य का चुनाव शिक्षा देने के लिए किया जाता था। गुरू आश्रमों की अपनी मान–मर्यादा थी। शिष्य अपने गुरू की श्रद्धाभाव से सेवा करते तथा उचित मान–सम्मान प्रदान करते थे। गुरू भी शिष्य को निष्काम भाव से विद्यादान प्रदान करते थे। गुरू का शिष्य को विद्यादान देना तथा शिष्य का शिक्षा ग्रहण करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। गुरू–ऋण से मुक्त होने के लिए ही शिक्षण कार्य निःशुल्क किया जाता था तथा शिक्षा समाप्त होने पर शिष्य अपने सामर्थ्य के अनुसार गुरूदक्षिणा देता था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में संगीत का स्वरूप स्थित हो चुका था तथा संगीत को शिक्षा का एक अंग स्वीकार किया गया था। अतः वैदिक काल से प्रवाहित विद्या मन्दिरों की व्यवस्था पश्चात्वर्ती समय में भी चलती रही। ''इसके पश्चात् बौद्ध काल में कलाओं के सन्दर्भ में जो सामग्री प्राप्त होती है उसमें कुछ विश्वविद्यालयों की जानकारी मिलती है। वाराणसी उस समय का महत्त्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र था। नालन्दा, विक्रमशीला,

तदन्तपुरों, तक्षशीला जैसे विश्व–विद्यालयों में गान्धर्व का स्वतन्त्र विभाग था।''[12] ''इन विद्यामन्दिरों को राजा या धनी नागरिकों की ओर से आकर्षित सहायता दी जाती थी जिसे 'अग्रहार' कहा जाता था।''[13] अतः स्पष्ट है कि वैदिक काल में ही भारतीय संस्कृति में 'गुरू शिष्य परम्परा' के रूप में संगीत शिक्षण प्रणाली को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ तथा संगीत कला को मानव के व्यक्तित्व के विकास का विशेष अंग मानकर शिक्षा का एक प्रमुख अंग स्वीकार किया गया।

मध्यकाल में प्रचलित ''घराना'' शिक्षण पद्धति

''वैदिक कालीन शिक्षा का स्वरूप ही भारतीय संस्कृति का मूल है और हजारों वर्षों से प्रवाहित संगीत शिक्षा का आधार भी परन्तु दीर्घ कालक्रम में हुए सामाजिक परिवर्तनों, राजनैतिक कारणों, वैज्ञानिक संसाधनों तथा विदेशी संस्कृतियों के प्रभावों आदि के कारण संगीत शिक्षा संबंधी सम्पूर्ण व्यवस्था में एक विशाल परिवर्तन व अवरोध आ गया।''[14] मध्ययुग में सामाजिक दृष्टिकोण में हिन्दु राजाओं में परस्पर वैमनस्य व आपसी फूट के कारण एकता का अभाव था। इस समय के राजपूत शासक युद्ध प्रिय तो थे परन्तु साथ ही साथ संगीतकारों व कलाकारों का भी सम्मान करते थे। राजदरबारों में संगीतकारों और कलाकारों को राजाश्रय प्राप्त था। परन्तु राजाओं के परस्पर वैमनस्य के कारण कलाकारों की मनोवृति भी संकीर्ण हो गई थी। फलस्वरूप कलात्मक था आध्यात्मिक दृष्टि से संगीत का विकास भी अवरूद्ध होने लगा। हिन्दू राजाओं के परस्पर वैमनस्य व फूट का लाभ उठाकर ही मध्ययुग में 8वीं शताब्दी के लगभग यवनों ने भारत पर आक्रमण करना आरंभ कर दिये। जिसके फलस्वरूप देश में राजनैतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई तथा अनेक विदेशी शासकों का आगमन हुआ। जिसके परिणामस्वरूप भारत में मुस्लिम शासन स्थापित हो गया। विदेशी शासकों के आगमन से विदेशी संस्कृति का प्रभाव भी भारतीय संगीत व संस्कृति पर पड़ना स्वाभाविक था।

अतः मध्यकाल में हिन्दु और मुस्लिम संस्कृति के मध्य टकराव तथा सांस्कृतिक भिन्नता के कारण भी संगीतज्ञों में संकीर्ण व ईर्ष्यापूर्ण मनोवृत्ति प्रवेश कर गई। दो सभ्यताओं के आदर्शों व मान्यताओं में अन्तर होने के कारण संगीत केवल मनोरंजन की वस्तु ही साधारण रूप से माना जाने लगा तथा संगीत गुरूकुलों से निकलकर दरबारों की शोभा बढ़ाने लगा।

इस युग में संगीत कला राजाओं के आश्रय में ही उन्नति कर सकी। इस काल में कलाकार अपने ज्ञान को छिपाकर रखते थे। कलाकार के मन में संकीर्ण मनोवृत्ति के उद्‌भव के कारण वह अपनी संगीत कला के कोई न कोई महत्त्वपूर्ण गुर छिपा लेते थे। गुरू को डर होता था कि कहीं उनका शिष्य उनसे श्रेष्ठ न हो जाए तथा संगीत शिक्षा भी केवल अपने वंश के लोगों को सिखाते थे। जिससे संगीत केवल पीढ़ी–दर–पीढ़ी तक सीमित होकर रह गया। इस तरह मानसिक संकीर्णता से अनेकानेक वर्ग बन जाने के कारण, ईर्ष्या, स्वार्थपरता, संकीर्णता, अशिक्षा, द्वेष आदि बातें उनके व्यक्तित्व में प्रवेश कर गई। इस प्रकार युगों–युगों से जो संगीत शिक्षण 'गुरू शिष्य परम्परा' के रूप में चलता रहा, उसी संगीत शिक्षण ने मध्यकाल में आकर 'घरानों' का रूप धारण कर लिया। भारतीय संगीत के इतिहास में 16वीं शताब्दी में घरानों के प्रादुर्भाव के सूत्र प्राप्त होते हैं। ''घराना' शब्द की उत्पति 'घर' शब्द से मानी जाती है। जिसका तात्पर्य है कुटुम्ब, परिवार, समुदाय, वंश–परम्परा आदि। जिस प्रकार एक घर में परिवार की शताब्दियों से चलती आ रही एक वंश परम्परा होती है। उसके नियम, कायदे, मर्यादाएं व अनुशासन की सीमाएं होती है, पारिवारिक परिवेश का एक विशिष्ट स्वरूप होता है, उसी प्रकार सांगीतिक भाषा में घराने का तात्पर्य उस परम्परा से है जो गुरू–शिष्य के रूप में अपने पीढ़ियों तक चलती रहती है।''[15]

मध्ययुग की विशिष्ट परिस्थितियों में जब गुरूकुल पद्धति का पतन होने लगा तथा संगीत कला अपना वर्चस्व खोने लगी तब संगीत कला को स्थायित्व प्रदान करने में घरानों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस परम्परा में गुरू अपने शिष्य को सीना–ब–सीना तालीम देता था। गुरू अपने कण्ठ तथा गायिकी की विशेषताओं को शिष्य के गले में उतारने की कोशिश करता था तथा शिष्य भी गुरु की गायकी की हूबहू नकल उतारने की कोशिश करते। इस परम्परा में किसी भी घराने के शिष्यों को अपने घराने के अतिरिक्त अन्य घरानों की गायिकी को सुनने की आज्ञा नहीं होती थी तथा संगीत प्रेमी शिष्य को गुरू के कड़े अनुशासन व नियमों में रहकर ही संगीत सीखना पड़ता था। जिस प्रकार गुरू सिखाए उसी प्रकार सीखना पड़ता था, शिष्य गुरू से कोई प्रश्न नहीं पूछ सकता था। इस प्रकार की परिस्थितियों ने संगीत प्रेमी शिष्य को कई प्रकार के दोषों से युक्त कर दिया जैसे यदि गुरू को नाक से गाने या मुँह टेढ़ा करके गाने की आदत होती थी तो शिष्य उसे घराने की विशेषता

समझकर अपना लेता था जो कि संगीत शिक्षण की दृष्टि से अनुचित था। अतः कुछ समय पश्चात् घराना परम्परा में संगीत की स्थिति दयनीय होने लगी। भारत जैसे धर्मपरायण देश में जहां रामायण व महाभारत काल में संगीत की शिक्षा सामान्य शिक्षा का अंग मानकर शिक्षा संस्थानों में दी जाती थी, वहीं मध्यकाल में आकर संगीत के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण मानो लुप्त ही हो गया था। इस काल में संगीत बादशाहों तथा राजदरबारों में भोग विलास का माध्यम माना जाने लगा। राजाश्रय प्राप्त होने के कारण कलाकारों में प्रतिस्पर्धा की भावना ने उन्हें स्वयं को श्रेष्ठ घोषित करने के लिए बाध्य किया। परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति के मूल आदर्शों में गिरावट आने लगी तथा संगीत की विशुद्ध शास्त्रीय परम्परा, सामाजिक विचारधारा, उदारवादी दृष्टिकोण आदि लुप्त होने लगा। संगीतज्ञों में संकीर्ण मनोवृत्ति का प्रादुर्भाव होने से संगीत कला केवल उनके पुत्रों व गण्डाबन्ध शार्गिदों तक सीमित होकर रह गई तथा घराना पद्धति में शिष्य की पात्रता, उसकी विषय के प्रति रूचि और समर्पण भाव नहीं रह गया अपितु कुल, जाति धर्म आदि अधिक उच्च पात्रताओं के रूप में स्वीकृत हो गए। जिससे संगीत सामान्य जनमानस से दूर होता चला गया।

अतः इस परम्परा ने कई ऐसे शिष्यों को हताश किया जो संपूर्ण रूप से संगीत कला के प्रति समर्पित थे। इस तरह घराना परम्परा उत्तर मध्यकाल तक संगीत शिक्षण की पद्धति रही। जिसका परिणाम यह हुआ कि संगीत कला एक विधा होते हुए भी समाज में तथा शिक्षा के क्षेत्र में अपना उच्च स्थान बना पाने में असफल रही। संगीत की पूर्ण शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी संगीतज्ञ को 'शिक्षित' व्यक्ति के समान मान–सम्मान नहीं मिलता था। इतना ही नहीं समाज में संगीतज्ञ को हेय दृष्टि से देखा जाता था।

ऐसी चिन्तनीय परिस्थिति में यह सोचना आवश्यक हो गया कि वर्तमान शिक्षण प्रणाली में कुछ ऐसे परिवर्तन किए जांए जिससे संगीत का महत्त्व और गौरव भी बना रहे तथा शैक्षणिक क्षेत्र में उसे अन्य विधाओं के समकक्ष स्थान और संगीतज्ञों को उचित मान–सम्मान प्राप्त हो सके तथा संगीत शिक्षा समाज के सभी वर्गों के संगीत प्रेमियों को उपलब्ध हो सके। इन्हीं सब उद्देश्यों की पूर्ति हेतू आगे चलकर संगीत के क्षेत्र में कई महान क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, जिससे आधुनिक काल में

संगीत शिक्षण की एक नई शिक्षण व्यवस्था का उदय हुआ। जिसे आज हम ''संस्थागत शिक्षण पद्धति'' के नाम से जानते हैं।

आधुनिक काल की संस्थागत संगीत शिक्षण पद्धति

''18वीं शताब्दी का अन्त तथा बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ भारतीय संगीत के पुनरूत्थान का काल माना जाता है। इस समय वह कला जो सभ्य समाज से बहिष्कृत व तिरस्कृत होकर राजा महाराजाओं की विलासपूर्ण मनोरंजन का साधन बनकर रह गई थी, अनुकूल धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक वातावरण से एक अपूर्व चेतना का कारण बनी।''[16]

संगीत शिक्षा जनसाधारण सुलभ हो, इसके लिए बुद्धिजीवी वर्ग प्रयत्नशील रहा जिसने संगीत को सम्मानीय स्थान दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। जिस प्रकार 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध तक अनेक राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण एक क्रान्ति सी आई, वहीं इस अवधि में शिक्षा के क्षेत्र में युद्ध स्तर पर किये गए प्रयास किसी आन्दोलन से कम नहीं थे। ''देश में संगीत को ''घरानों'' के संकुचित दायरे से मुक्त कराकर जनसामान्य को संगीत उपलब्ध कराने के प्रयास 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में यत्र–तत्र प्रारंभ हो गये थे।''[17] ''उत्तर भारत में संगीत के शिक्षा सम्बन्धी प्रयासों में सर्वप्रथम नाम श्री क्षेत्रमोहन गोस्वामी का आता है।''[18] इन्होंने 1871 में कोलकाता में संगीत विद्यालय की स्थापना की।

सन् 1874ई. में पं. भास्कर राव बखले द्वारा पूना में ''भारत गायन समाज'' की स्थापना की गई तथा सन् 1886 ई. में मौलाबख्श घिस्से खां और पं. आदित्यराम द्वारा बड़ौदा में ''स्टेट म्यूज़िक कॉलेज'' नामक संगीत विद्यालय की स्थापना की गई।

आधुनिक काल में संगीत को व्यवसाय या मनोरंजन मात्र के उद्देश्य से ऊपर उठाकर तथा अन्य विषयों के समान महत्त्व प्रदान करने का और समाज के सभी वर्गों में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने का श्रेय आधुनिक युग के क्रान्तिकारी संगीतज्ञ पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर तथा पं. विष्णुनारायण भातखण्डे को जाता है। उनके अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप ही 25–30 वर्षों में पूरे उत्तर भारत में संगीत शिक्षण संस्थाओं का जाल सा बिछ गया। संगीत की संस्थागत शिक्षण पद्धति का उद्भव पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर द्वारा 5 मई 1901 ई. में लाहौर में ''गान्धर्व महाविद्यालय'' की

स्थापना से हुआ। संगीत शिक्षा के क्षेत्र में यह एक क्रान्तिकारी परीक्षण था। जिसमें प्राचीन गुरूकुल प्रणाली तथा आधुनिक संस्थागत शिक्षण प्रणाली का अद्‌भूत समन्वय था। 1908 ई. में गान्धर्व महाविद्यालय का ही एक केन्द्र बम्बई में खोला गया। इस विद्यालय का उद्देश्य केवल धन अर्जित करना ही नहीं अपितु समाज में संगीत विद्या को उचित मान–सम्मान तथा अन्य विषयों के समकक्ष प्रतिष्ठित स्थान दिलवाना भी था।

''धीरे–धीरे पूना, नागपूर, बम्बई तथा अन्य अनेक स्थानों पर गान्धर्व महाविद्यालय की अनेक शाखाएं स्थापित हो गई। इन शाखाओं में प्रबन्ध की एकरूपता स्थापित करने की दृष्टि से दिसम्बर 1931 ई. में 'अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मण्डल' की स्थापना पं. नारायण मोरेश्वर खरे एवं पं. शंकरराव व्यास के नेतृत्व में की गई।''[19] पं. जी की प्रेरणा से उनके विद्यालय से शिक्षा प्राप्त कर उनके शिष्यों ने भारत में स्थान–स्थान पर संगीत विद्यालयों की स्थापना की जो आज भी अपनी उन्नत अवस्था में हैं।

''इसी प्रकार भातखंडे जी ने भी सन् 1918 ई. में ग्वालियर में माधव संगीत विद्यालय की तथा सन् 1920 ई. में बड़ौदा में व सन् 1926 ई. में लखनऊ में संगीत–विद्यालयों की स्थापना की।''[20] संगीत के क्षेत्र में जहाँ पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर जी ने क्रियात्मक पक्ष को सफल एवं आगे बढ़ाने का प्रयास किया वहीं संगीत शिक्षण के शास्त्र पक्ष में पं. भातखण्डे का योगदान भी अपूर्व एवं अलौकिक रहा हैं इन्होंने मुम्बई में 'गायनोत्तेजक मंडल' के अन्तर्गत संगीत के शास्त्र व क्रियात्मक दोनों पक्षों का अध्ययन, अध्यापन आरम्भ किया। साथ ही कई संगीत ग्रन्थों व पुस्तकों की रचना तथा प्रकाशन करवाकर संगीत शिक्षण के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

सन् 1929 से पूर्व शिक्षा संस्थाओं में संगीत विषय नहीं था, परन्तु इन दो महान् विभूतियों के प्रयत्नस्वरूप ही संगीत विषय को विद्यालय व विश्वविद्यालय स्तर पर अन्य व्यवसायी विषयों के साथ सन् 1947 ई. में अतिरिक्त विषय के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। सन् 1950 ई. में वाराणसी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संगीत विभाग की स्थापना की गई। जिसके फलस्वरूप देश के अन्य विश्वविद्यालयों में भी संगीत विभागों को प्रारंभ करने की होड़ सी लग गई। सन् 1955 ई. में खैरागढ़ में ''इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय'' की स्थापना की गई।

इस प्रकार धीरे–धीरे संपूर्ण भारतवर्ष में शैक्षणिक संस्थानों में संगीत विषय को पाठ्यविषय के रूप में स्थान मिल पाया। वर्तमान समय में संस्थागत संगीत शिक्षण निम्न प्रकार से प्रदान किया जा रहा है–

1. एकमात्र संगीत की शिक्षा प्रदान करने वाले संस्थान जैसे– कॉलेज ऑफ इण्डियन, डॉन्स एण्ड ड्रामेटिक्स, बड़ौदा, गांधर्व महाविद्यालय, माधव संगीत महाविद्यालय, ग्वालियर, भातखंडे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ, प्रयाग संगीत समिति इलाहाबाद, प्राचीन कला केन्द्र चण्डीगढ़।

2. विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत स्थापित संगीत संकाय अथवा विभाग जैसे– बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के अन्तर्गत संगीत एवं ललित कला संकाय, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़, विश्वभारती शांतिनिकेतन, रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कलकत्ता, संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा देश के अन्य विश्वविद्यालय जहां संगीत के स्नात्तकोत्तर पाठ्यक्रम 'फेकल्टी ऑफ आर्टस' के अन्तर्गत आते हैं जैसे– हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, इलाहाबाद वि.वि. इलाहाबाद, आगरा, वि.वि., आगरा इत्यादि अन्य कई ऐसे विश्वविद्यालय हैं जहां संगीत शिक्षण प्रदान किया जाता है। इन विश्वविद्यालयों में संगीत विषय के अतिरिक्त अन्य विषयों की शिक्षा का प्रावधान भी अन्य विषयों की फैकल्टी अथवा विभागों के रूप में हैं।

3. ऊपरवर्णित इन दो प्रकार की शिक्षण संस्थाओं के अतिरिक्त वर्तमान में कुछ ऐसी संस्थाएं भी हैं जो केवल गुरु–शिष्य परम्परा पर ही आधारित हैं जहां संगीत शिक्षण गुरु–शिष्य परम्परा द्वारा ही प्रदान किया जाता है। जैसे– श्रीराम भारतीय कला केन्द्र, नई दिल्ली, यूनिवर्सिटी म्यूज़िक सेन्टर, मुम्बई, नेशनल सेंटर फॉर दि परफॉर्मिंग आर्ट्स, मुम्बई, संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता इत्यादि।

गुरु–शिष्य परम्परा पर आधारित ये सभी संस्थान घराना पद्धति की विशेषताओं का संरक्षण कर कलाकारों का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहना उचित होगा कि विष्णुद्वय ने संगीत–शिक्षण को संस्थागत शिक्षण का रूप प्रदान कर संगीत जगत को एक नई दिशा प्रदान की। जिसके परिणामस्वरूप आज शिक्षण संस्थानों द्वारा संगीत का प्रचार–प्रसार तो हुआ

ही है साथ ही शास्त्रीय संगीत के प्रति लोगों की रूचि भी बढ़ी तथा संगीत एवं संगीतकारों को सभ्य व शिक्षित समाज में सम्मानित स्थान भी प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त संगीत को शिक्षण संस्थाओं में पाठ्यविषय के रूप में स्थान प्राप्त होने से पाठ्यक्रम, परीक्षा प्रणाली व उपाधियों को महत्त्व भी प्राप्त हुआ है तथा संगीत समाज के हर वर्ग व क्षेत्र के लोगों के जिस सर्वजनसुलभ हो गया है। इस प्रणाली द्वारा अब संगीत शिक्षा प्राप्त करने वाले को पहले की तरह गुरू की हज़ार मिन्नतें व खुशामदें नहीं करनी पड़ती किन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से इसमें कई त्रुटियां भी उभरकर सामने आ रही हैं जिनका निवारण करना अत्यावश्यक है। विशेष रूप से संगीत शिक्षण प्रणाली के संदर्भ में प्रत्येक संगीतज्ञ, शिक्षक, शिष्य व कलाकार और संगीत समालोचक का कर्त्तव्य बनता है कि वह संगीत क्षेत्र में आ रही त्रुटियों, समस्याओं का समाधान करने के लिए निरंतर प्रतिबद्ध रहें।

संदर्भ

1. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, पृ. 1
2. ऋषितोष डॉ. कुमार, संगीत शिक्षण के विविध आयाम, पृ. 20
3. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, पृ. 3
4. परांजपे डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 128
5. ऋषितोष डॉ. कुमार, संगीत शिक्षण के विविध आयाम, पृ. 4
6. वालिया डॉ. जे. एस, उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा, पृ. 23
7. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, पृ. 2
8. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, पृ. 216
9. श्रीखण्डे डॉ. सुरेश गोपाल, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली, पृ. 267
10. ऋषितोष डॉ. कुमार, संगीत शिक्षण के विविध आयाम, पृ. 96
11. बंसल डॉ. परमानन्द, चन्द डॉ. ज्ञान, नाद कंचन, पृ. 69
12. वही, पृ. 68
13. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, पृ. 56
14. सक्सेना डॉ. मधुबाला, सक्सेना डॉ. राकेशबाला, संगीत मधुबन, पृ. 218
15. वही, पृ. 97
16. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत की शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, पृ. 85
17. परांजपे डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर, तानसेन की संगीत साधना, पृ. 7
18. चक्रवर्ती इन्द्राणी, तन तन्त्री मन किन्नरी, पृ. 106
19. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, पृ. 86
20. दासु श्रीमती बी.प्रेमकुमारी, संगीत मासिक पत्रिका, जून 1988, पृ. 19